राजनैतिक व्यवस्था टूट रही है

अरुण चतुर्वेदी

1990 के दशक के पश्चात यह अहसास बहुत तेजी के साथ हो रहा है कि राजनीतिक व्यवस्था में टूटन हो रही है और हमारे विकल्प कम होते जा रहे हैं। इस टूटन का सबसे पहला गंभीर आभास तो तब हुआ जबकि हम लोग यह मान बैठे कि हमारे यहां राज्य की अब इतनी आवश्यकता नहीं है जितनी पहले थी। यह विचार राज्य के कार्य क्षेत्र को तो कम करने की बात कह रहा था, किंतु इस क्रम में राज्य उन वर्गों की उपेक्षा कर गया जिन्हें राज्य के सहयोग की सबसे अधिक आवश्यकता थी। यदि राज्य लोगों की मदद नहीं कर रहा है तो लोगों की भी उसके संचालन में क्यों रुचि हो। हमारे यहां इस विचार ने राजनीति के संचालन के आधार को ही बदल दिया। यही नहीं राजनैतिक दलों के विचार और संगठन के स्वरूप को भी गहरे से प्रभावित किया। ऐसी स्थिति में पुरानी व्यवस्था का टूटना गलत नहीं लगता, परंतु नई व्यवस्था के आदर्श हम स्थापित नहीं कर पाए। हमारे यहां राज्य के प्रति दृष्टिकोण दो अतिरेक धारणाओं के बीच का ही रहा है। एक ओर ब्रिटिश साम्राज्यवादी परंपरा का क्रूर और नृशंस राज्य, लगभग यही व्यवस्थाएं सामंतशाही राज्यों में भी रहीं और राज्य, राजा तथा प्रजा के बीच भय के संबंध रहे। राज्य में सत्ता के प्रयोगकर्ता तो निरंकुश ही थे। स्वतंत्रता के पश्चात राज्य के कल्याणकारी स्वरूप में राज्य लोक कल्याण की योजनाओं का निर्धारक और समाज में असमानताओं और अभावों को दूर करने वाले माध्यम के रूप में भी विकसित हुआ, किंतु वह सरक्षणवादी

राज्य भी अपने विवेक और सत्ता के प्रयोग में अधिक प्रजातांत्रिक नहीं था और परिणाम यह रहा कि राज्य की सत्ता के प्रयोग में विवेक, विचार-विमर्श और औचित्य के स्थान पर निरंकुशता, भावनात्मक दोहन और सत्ता के अनुचित प्रयोग ही अधिक बढ़े।

व्यक्ति की स्थिति के बारे में हमारे यहां कोई भी सोच क्यों न रहा हो, वह बहुत मजबूत स्थिति में भी कभी आया नहीं। सामाजिक स्तर पर उसकी स्थिति को पारिवारिक और समूहगत पहचान ने कमजोर किया और वैचारिक स्थितियों में अलग-अलग व्यक्ति के महत्व को माना गया, किंतु सोच की प्रक्रिया में वह अलग अस्तित्व नहीं बना पाया इसीलिए व्यक्ति की पहचान उसके अलग व्यक्तित्व और उसको बनाए रखने की सुनिश्चित प्रक्रियाएं हमारे यहां विकसित नहीं हो पाईं। इसी का परिणाम है कि भारतीय समाज के बहुत सारे समूहों में व्यक्ति की अपनी पहचान के और अपने अस्तित्व के संघर्ष लगातार चल रहे हैं। हमारी राजनैतिक व्यवस्था का एक बहुत बड़ा संकट इस पहचान का अभाव है।

राजनीतिक व्यवस्था पर चिंतन करने वाले इस विचार पर बहुत ही प्रसन्न है कि भारत में वैचारिक दूरियां नहीं के बराबर हो गई हैं और राजनीतिक दलों ने अपनी वह पहचान खो दी है। 1980 के दशक से समाप्त हुई राजनैतिक पहचान वर्तमान में राजनैतिक दलों के संकट का भी कारण है क्योंकि पहले भारतीय दलों को उनके विशेष राजनीतिक विचार के कारण पहचाना जाता था। भारतीय राजनीति में राजनीतिक दल अपने चिंतन के फलस्वरूप आधुनिक या पुरातनपंथी माने जाते थे। आधुनिकता के मुहावरे को परिभाषित करते हुए 'धर्म निरपेक्षता' और पुराने मूल्यों के प्रति रूझान के कारण कांग्रेस और तत्कालीन जनसंघ के बीच भारतीय राजनीति के व्याख्याकार अंतर करते थे। 'धर्म निरपेक्षता' भारतीय राजनीति के प्रभावी मूल्यों में से था क्योंकि यह हमें बहुलतावादी एकता के लिए अनिवार्य था। इस आधार पर जैसे-जैसे भेद करना कम होता गया उन दलों को अधिक लाभ हुआ जो दक्षिणपंथी राजनीति कर रहे थे और अपने प्रयोगों और प्रतीकों का परंपरागत धर्म प्रधान राजनीति से जोड़ रहे थे।

वैसे यह बात साफतौर पर समझ में आनी चाहिए कि विचारों की राजनीति मूलतः विवेक की राजनीति होती है और उसके माध्यम से जो राजनीति होगी वह अधिक उपयोगी होगी, किंतु जो राजनीति वैचारिक अभाव में संचालित होगी उसके भावनात्मक होने में कोई कारण नहीं है। भारतीय राजनीति में यह देखना बहुत कठिन नहीं है क्योंकि जैसे-जैसे भारत की राजनीति में वैचारिक अंतराल समाप्त हुए हैं वैसे-वैसे हमारे यहां राजनीतिक विकल्पों के स्थान पर भावनात्मक राजनीति और भावुकता से जुड़ी राजनीति ने ही अपने स्थान में वृद्धि की। धर्म से जुड़े प्रतीक और संस्थान में वृद्धि इसी का परिणाम है। 1990 के दशक में उदारवादी राजनीति में कट्टरवादी राजनीति में बदलाव इसी के संकेत हैं। साधु संतों का राजनीति में प्रवेश इसी बीमारी के संकेत हैं जो लगातार बढ़ते जा रहे हैं। धार्मिक राजनीति में विवेक स्थान भावुकता ले लेती है और सामान्यतः अभावों में संचालित राजनीति प्रचुरता की राजनीति बन जाती है और धार्मिक संस्थान अत्यधिक संपन्न हो जाते हैं और विभिन्न धार्मिक न्यासों के पास लगातार धन राशि बढ़ने लगती है और उसके दुष्प्रभाव भी।

वैचारिक राजनीति का अंत बहुत ही रोचक, किंतु दुर्भाग्यशाली है। इसके सूत्र को शिक्षा व्यवस्था से जोड़ना अनुचित नहीं होगा। हमारे यहां स्वतंत्रता के पश्चात शिक्षा की वैचारिक आधारशिला उदारवादी और राष्ट्रीय आंदोलन से जुड़ी होने के कारण इन्हीं विचारों से जुड़ी रही। किंतु धीरे-धीरे इन संस्थाओं के राजनीतिक पराभव ने इनके वैचारिक पराभव को भी प्रभावित किया। भारतीय प्रयोग में प्राचीनवादी और कट्टर शिक्षा तंत्र का विकास 'आदर्श विद्या मंदिर' और 'शिशु भारती' जैसे कट्टरवादी संस्थानों ने किया जिनकी योजनाओं में धार्मिक विचारों से एक कट्टरता को जन्म दिया जाए। यह वह समय भी था जब वैचारिक बदलाव का स्थान प्राचीन मंदिरों का जीर्णोद्धार ले रहा था। परंपरा, कट्टरवाद और विवेकहीन राजनीति का निर्माण इस प्रक्रिया में हुआ।

इसी समय हमारे यहां एक और मुहावरे ने जन्म लिया वह था बाजार और बाजार की आवश्यकताओं से प्रभावित शिक्षा व्यवस्था इस नए आंदोलन ने उस सबको समाप्त कर दिया जो मूल्यों से जुड़ा था। उदारवादी शिक्षा तो इसमें पूरी तरह समाप्त हो हुई है क्योंकि बाजार उस सबसे नाराज है जो विवेक सीखना या यह पहचान करना सिखाये कि गलत क्या है और सही क्या है। बाजार से प्रभावित शिक्षा ने उन व्यवस्थाओं को तैयार किया है जो हमारे अपने लिए

नहीं है। पश्चिमी बाजार में भारतीय श्रम और भारतीय युवा सस्ते दामों पर अधिक बुद्धिमान सामग्री है जो पश्चिमी बाजार को हमारी ओर आकर्षित करता है और हमारे यहां के युवा प्राविधि और प्रबंधन के लोग उनके बाजार के लिए उत्पाद है। यह व्यवस्था हमारे मध्यवर्ग को आनंद की अनुभूति देती है और हम अपनी सारी व्यवस्थाओं को समाप्त कर बाजार के पीछे हैं। हमारी इस नई व्यवस्था का दूसरा संकट है कि हम अंतर्राष्ट्रीय दबावों में अपनी खरीदारी की सूची को बदल चुके हैं: उपभोक्ता वस्तुओं का सबसे बड़ा बाजार हम हैं और उत्पादन के क्षेत्र में लगातार कमी आती जा रही है। गैर उत्पादक अर्थव्यवस्था लंबे समय तक नहीं चल सकती है। व्यवस्था का यह संकट पहचाना शुरू हुआ है और हमें अहसास नहीं है कि इसका अंत कैसा है और कितने समूहों की पहचान को प्रभावित करेगा।

व्यवस्था के अंत का एक बड़ा आधार प्रशासनिक निर्णयों की अक्षमता का है। पिछले कुछ वर्षों में प्रशासनिक निर्णयों में न केवल तदर्थवाद का प्रभाव नजर आता है, वरन नीति निर्णयों की प्रक्रियाओं की समाप्ति भी साफतौर पर नजर आती है। इस अक्षमता का आरंभ कहां से माना जाए। राजनैतिक नेतृत्व की अक्षमता इसका सबसे बड़ा कारण कहा जाय तो गलत नहीं है। वर्तमान नेतृत्व की राजनैतिक हैसियत ही कम नहीं हुई है वरन उसकी प्रशासनिक कुशलता भी गंभीर रूप से लगातार कम होती हुई नजर आती है। प्रशासन राजनैतिक दक्षता से नहीं वरन विभिन्न गिरोहों की आवश्यकताओं से चल रहा है, जिसका सर्वोच्च निर्णायक राजनैतिक नेतृत्व है। प्रशासनिक तंत्र उसका लंबे समय का संरक्षक है और दूसरे दर्जे का औचित्य प्रदान करने वाला जिसने अपना विवेक और निर्णय क्षमता आर्थिक और राजनैतिक लाभ देने वालों को सौंप रखी है। प्रशासनिक तंत्र उच्च नीति निर्णय के स्थान पर अपनी सारी क्षमताएं मात्र दैनिक और साधारण निर्णयों को लेने में लगा देते हैं प्रभाव यह है कि प्रशासनिक टिप्पणियों में प्रशासकों की क्षमता के स्थान पर अपने संरक्षकों के हितों की प्रभावी व्याख्या है।

सारे निर्णयों को राजनैतिक प्रतिबद्धता के प्रभाव का परिणाम नहीं माने जा सकते हैं। प्रशासन की अनीति और अक्षमता ही भ्रष्टाचार को जन्म देती है। इस प्रवृत्ति का परिणाम यह रहा कि प्रशासनिक अक्षमता प्रशासनिक अनिर्णय का कारण भी बन गया है, जिसके मूल में तो भ्रष्टाचार ही रहा है।

पिछला दशक व्यवस्था पर से सामान्य जन के अविश्वास का दशक भी रहा है। यह अविश्वास कई तरीकों से प्रकट होता है। एक जनप्रिय तरीका है राजनेता को भ्रष्ट मान लिया जाय। यह भी असंभव नहीं है कि उच्च प्रशासनिक अधिकारी भी उससे बचे नहीं हैं। वर्तमान समय में जहां भारत में सैनिक तंत्र भी इससे बच नहीं पाया है तब संकट और भी गहरा हो गया है। व्यवस्था के इस पतन की व्याख्या न केवल कष्टकारी है वरन एक अफसोस की स्थिति भी।
